□ डा० मुक्ताप्रसाद पटैरिया

शक्ति का मूल स्रोत साधना है। साधना के द्वारा ही जीवन व मृत्यु पर नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता है। आत्म-विकास के चरम शिखर पर चढ़ने का मार्ग साधना ही है। प्रस्तुत में 'जैन साधना-पद्धति' का एक तुलनात्मक विश्लेषण पढ़िए।

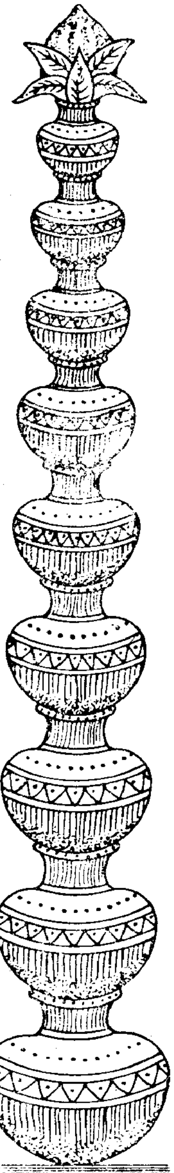

जैन-साधना-पद्धति : एक विश्लेषण

□

भारतीय इतिहास की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में साधना का महात्म्य प्रारम्भ से ही रहा है। ऐहिक-सुखों की सहज सुलभता तथा चरम पुरुषार्थ–'मोक्ष' (कर्मविमुक्ति) की उपलब्धि समान रूप में साधना से सम्भव होती है। श्राप और वरदान, मुक्ति व भुक्ति की सनातन परम्परा का मूल केन्द्र साधना-शक्ति ही रही है। जीवन और मृत्यु के झूले में दोलायमान मानव का चिन्तनशील मन सदा से ही यह समाधान ढूंढ़ने में संलग्न रहा है। भारतीय संस्कृति का मूल अध्यात्मपरक है। इसकी दृष्टि में जीवन और मृत्यु भी एक विशिष्ट कला रूप है। इस कला में भी निपुणता प्राप्ति का मूल साधन 'साधना' है, जिसके बल पर मानव इन दोनों–'जीवन व मृत्यु', पर नियन्त्रण प्राप्त कर सकता है।

इस परिप्रेक्ष्य में शक्ति के मूल स्रोत के अन्वेषक तत्त्वद्रष्टा ऋषियों एवं मुनियों ने तर्क की अपेक्षा–'श्रद्धा' और बहिर्दर्शन की अपेक्षा 'अन्तर्दर्शन' को महत्त्वपूर्ण सिद्ध करते हुए कहा कि—'जहाँ पर काय वाक् एवं मनोवृत्तियों की चरम सीमा है, वहाँ से अन्तर्दर्शन की प्रवृत्ति का शुभारम्भ होता है। सत्य की उपलब्धि को इन्होंने 'अन्तर्दर्शन' के रूप में स्वीकारा है। यहाँ 'सत्य' से तात्पर्य शक्ति के स्रोत 'आत्मा' से है। आत्मा के दर्शन-'अन्तर्दर्शन' का साधन जैन परिभाषा में 'मोक्षमार्ग' के रूप में प्रतिपादित मिलता है। जैनेतर दार्शनिक भाषा में इसे 'योग' तथा जनसाधारण की भाषा में 'साधना' भी कह सकते हैं। यहाँ 'साधना' का स्पष्ट तात्पर्य है—'इन्द्रियनिग्रह'। जैन-दर्शन में इसका नामान्तर 'संवर'[१] शरीर, मन और वाणी की प्रवृत्तियों का पूर्ण निरोध, कहा गया है। महर्षि पतञ्जलि ने इन्द्रियनिग्रह को 'योग' तथा बौद्धाचार्यों ने 'विशुद्धि मार्ग' के नाम से सम्बोधित किया है किन्तु जैनाचार्यों ने 'मोक्षमार्ग'[२] के साथ-साथ 'योग'[3] नाम से भी इसे अभिहित किया है।

योग का अर्थ—'युज्' धातु और 'घञ्' प्रत्यय से योग शब्द सम्पन्न होता है। संस्कृत व्याकरण में युज् धातु दो हैं। एक का अर्थ है—'जोड़ना'[४]–संयोजित करता और दूसरी का अर्थ है—'समाधि'[५]—मन की स्थिरता। भारतीय दर्शन में योग शब्द का प्रयोग दोनों ही अर्थों में हुआ है। चित्तवृत्ति के निरोध रूप में महर्षि पतञ्जलि ने, 'समाधि' के रूप में बौद्ध विचारकों ने योग को माना है। जबकि जैनाचार्यों ने योग को कई अर्थों में प्रयुक्त किया है। आचार्य हरिभद्र ने उन समस्त साधनों को योग माना है जिनसे आत्म-विशुद्धि होती है, कर्ममल का नाश होता है और मोक्ष के साथ[६] संयोग होता है। उपाध्याय यशोविजय जी ने भी यही[७] व्याख्या की है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार आध्यात्मिक भावना और समता का विकास करने वाला, मनोविकारों का क्षय करने वाला तथा मन, वचन और कर्म को संयत रखने वाला 'धर्म व्यापार'[८] ही श्रेष्ठ योग है।

इस प्रकार साधना के सन्दर्भ में 'योग' की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ दार्शनिकों ने की हैं। जिनके विश्लेषण के सन्दर्भ में अनेकों ग्रन्थों की रचना की गयी। जैनेतर दार्शनिकों में योग के प्रमुख आचार्य महर्षि पतञ्जलि की यौगिक व्याख्याओं के आधार पर दर्शन की एक प्रमुख शाखा ही प्रादुर्भूत हो गयी। इसी परम्परा में जैनाचार्यों ने भी अनेक ग्रंथों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की रचना अपनी मान्यताओं के आधार पर की है। इन ग्रंथों में विश्लेषण की यह एक विशेषता है कि अन्य दार्शनिकों ने जहाँ एकमात्र बाह्य प्रवृत्तियों के निग्रह को विश्लेषण का प्रमुख विषय बनाया, वहाँ जैन दार्शनिकों ने इसके साथ-साथ अन्तःप्रवृत्तियों का भी विश्लेषण किया है। यही 'अन्तःप्रवृत्ति' ही आत्मोपलब्धि—'मोक्ष' का प्रमुख साधन है। इसी को 'धर्म' कहा जाता है। इस धर्म का जितना परिशुद्ध व्यापार होगा, वह सारा का सारा योग में अन्तर्हित[९] होता है।

योग की व्यावहारिकता और पारमार्थिकता—योग एक साधना है। इसके दो रूप होते हैं—१. बाह्य और २. आभ्यन्तर। 'एकाग्रता' इसका बाह्य स्वरूप है और अहंभाव, ममत्व आदि 'मनोविकारों का न होना' आभ्यन्तर स्वरूप है। एकाग्रता योग का शरीर और अहंभाव एवं ममत्व आदि का परित्याग इसकी आत्मा है। क्योंकि मनोविकारों के परित्याग के अभाव में काय-वाक् एवं मन में स्थिरता नहीं आ सकती और न ही इनमें 'समता' का स्वरूप प्रस्फुटित हो सकता है। 'समत्व' के बिना योग-साधना नहीं हो सकती। जिस साधना में मात्र एकाग्रता है, अहंत्व, ममत्व आदि का परित्याग नहीं है, वह साधना मात्र 'व्यावहारिक' या 'द्रव्य-साधना' है। किन्तु जिसमें एकाग्रता और स्थिरता के साथ मनोविकारों का परित्याग भी है, वही साधना 'पारमार्थिक' या 'भावयोग साधना' होती है।

योग की पञ्चाङ्ग व्यवस्था—सामान्यतः जैन दार्शनिकों ने जगत के समस्त पदार्थों एवं समस्त प्रक्रियाओं को दो रूपों से स्वीकारा है—१. व्यवहार दृष्टि, २. निश्चय दृष्टि। योग के विश्लेषण में इस परम्परा का यथावत् पालन किया गया है। फलतः योग को मूल दो भेदों में विभाजित किया गया है। व्यावहारिक दृष्टि से स्थान-आसन आदि एकाग्रता के विशेष प्रयोग को 'कर्मयोग' तथा निश्चय दृष्टि से मोक्ष से सम्बन्ध-योग, कारक-पद्धति विशेष को 'ज्ञानयोग' माना गया है। इनमें 'कर्मयोग' दो प्रकार का तथा 'ज्ञानयोग' तीन[१०] प्रकार का है। इस प्रकार आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार योग के पाँच[११] प्रकार हैं—

कर्मयोग—(१) **स्थानयोग**—पर्यङ्कासन, पद्मासन आदि के माध्यम से काय-वाङ्-मन की चञ्चलता का निरोध।

(२) **ऊर्णयोग**—मन्त्र-जाप आदि के द्वारा शब्दों के उच्चारण से काय-वाङ् मन की चञ्चलता का निरोध।

ज्ञानयोग—(३) **अर्थ योग**—नेत्रादि पदार्थों के वाच्यार्थ चिन्तन में एकाग्रता।

(४) **आलम्बन योग**—पदार्थ विशेष (पुद्गलमात्र) में मन को केन्द्रित करना।

(५) **रहितयोग**—समस्त पदार्थों के आलम्बन से रहित होकर मात्र आत्मचिन्तनात्मक निर्विकल्प समाधि।

साधना में आहार की अपेक्षा

आचार्य हरिभद्र की यह पञ्चाङ्ग व्यवस्था आधुनिक है। प्राचीन परम्परा जैन साधना पद्धति में द्वादशाङ्ग योग की व्यवस्था रही है। इस द्वादशांग व्यवस्था को 'तप' के नाम से भी व्यवहृत किया गया है। यद्यपि जैनयोगाचार्यों ने पतञ्जलि की अष्टांग योग व्यवस्था का अनुसरण अक्षरशः नहीं किया है, फिर भी उनके प्रथम पांच 'अंतरंग' और बाद के 'तीन बहिरंग' भेदों का सादृश्य इन द्वादशांगों की बाह्याभ्यन्तर भेद कल्पना में स्पष्ट परिलक्षित होता है। इन द्वादशांगों में से प्रथम चार बाह्यांगों का सम्बन्ध आहार से है। जन-साधारण की अपेक्षा साधक को आहार की अपेक्षा अधिक होती है। फिर भी साधना पद्धति में स्वस्थता का स्थान शरीर में कम, मन में अधिक रहता है। मन की स्वस्थता में आहार का 'ग्रहण और परित्याग' समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। जैनेतर योग-साधकों ने आहार की उपयोगिता के समर्थन में अनाहार का जहाँ निषेध[१२] किया है, वहाँ जैन-साधकों ने अनाहार पर विशेष बल दिया है। जैनाचार्यों का मत है कि उपवास से शरीर में रासायनिक परिवर्तन होते हैं और इन परिवर्तनों से 'संकल्पसिद्धि' सहज या सुलभ हो जाती है। वर्तमान युग में जैन धर्म एवं साधना के प्रवर्तक भगवान महावीर ने इस तत्त्व का बोध होने के उपरान्त दीर्घकालीन उपवास लगातार छः[१३] महीनों तक के किए हैं। इसीलिए जैन सिद्धान्त में उपवास का लक्ष्य 'संकल्पसिद्धि' माना गया है, न कि 'शरीरशोषण', जैसी कि प्रायः लोगों की सामान्य धारणा बनी रहती है। ऊनोदरी, अल्पाहार सीमिताहार को प्रायः सभी साधकों ने समान[१४] रूप से महत्त्वपूर्ण माना है। आहार के सन्दर्भ में साधक को 'अस्वादवृत्ति की व्याख्या करते हुए जैनाचार्यों ने कहा है कि 'साधक को मनोज्ञ आहार ग्रहण करते हुए भी उसका चिन्तन और स्मरण आदि नहीं करना चाहिए'। यहाँ पर 'अस्वादवृत्ति' से तात्पर्य है—'विकारवर्द्धक रसों का परित्याग'। यह वृत्ति साधक योगी के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधना में सहयोगी शरीर का संयम—शरीर का योगसाधना में एक विशिष्ट स्थान है। इसका संयम, इसकी उपेक्षा, साधना में अत्यन्त सहयोगी सिद्ध होते हैं किन्तु शरीर की सुरक्षा और सज्जा आदि अत्यन्त बाधक होते हैं। फलतः इस बाधा को सदा के लिए साधनापथ से दूर रखने के निमित्त से "कायक्लेश" नामक **पंचम योगांग** की व्यवस्था जैन साधना पद्धति में निर्धारित की गई है। इसके चार प्रमुख[१५] भेद हैं—१. **आसन** २. **आतापना** ३. **विभूषा** तथा ४. **परिकर्म वर्जना**।

साधना में आसन का स्थान—चित्त की एकाग्रता तथा धैर्य की प्राप्ति के लिए साधना पद्धति में आसनों का अपना एक विशिष्ट स्थान है। जैनाचार्यों ने आसनों के तमाम भेदों को मूलतः दो भेदों में विभाजित किया है—१. शरीरासन २. ध्यानासन। इनमें से प्रथम प्रकार के आसन चित्त की एकाग्रता के निमित्त होते हैं तथा द्वितीय प्रकार के आसन धैर्यप्राप्ति के साधन होते हैं। जैन आगमों में प्रमुखतः सात[१६] प्रकार के आसनों का विश्लेषण उपलब्ध होता है—

(१) **स्थानस्थिति**—दोनों भुजाओं को फैलाकर तथा पैर की दोनों एड़ियों को परस्पर मिलाकर, अथवा एक बालिस्त जितना अन्तर रखकर, सीधे खड़ा होना।

(२) **स्थान**—स्थिर रूप में शान्त होकर बैठना।

(३) **उकडूं**—पैर और नितम्ब दोनों भूमि से लगाकर[१७] बैठना।

(४) **पद्मासन**—बायीं जांघ पर दायां, दायीं जांघ पर बायां पैर रखकर हथेलियों को नाभि के नीचे एक दूसरे के ऊपर सीधा रखकर बैठना।

(५) **वीरासन**—इसके कई प्रकारों का उल्लेख जैन आगमों में मिलता है। जैसे—बायां पैर दायीं सांथल पर, दायां पैर बायीं सांथल पर रखकर दोनों हाथों को नाभि के नीचे रखना। **अथवा** सिंहासन पर बैठकर पैरों को नीचे भूमि पर टिकाकर रखना। **अथवा** एक पैर से दोनों अण्डकोषों को दबाकर दूसरे पैर को दूसरी जांघ पर रखकर सरल भाव से बैठना।

(६) **गोदोहिका**—गोदोहन के समय जैसी स्थिति में बैठना।

(७) **पर्यङ्कासन**—दोनों जांघों के अधोभाग को पैरों पर टिकाकर, दोनों हाथों को नाभि के सामने दक्षिणोत्तर रखकर बैठना।

जैन परम्परा में वीरासन आदि कठोर आसनों तथा पद्मासन प्रभृति आसनों को सुखावह[१८] माना गया है तथा इन दोनों को ध्यान के निमित्त उपयोगी स्वीकारा गया है। इनमें से पद्मासन आदि को चित्त की एकाग्रता के लिए तथा वीरासन आदि को धैर्य की प्राप्ति में सहयोगी माना गया है।

साधना में मनोविकारों का अभाव—साधना के मार्ग में शरीर को सुखी बनाना और विभूषित करना जिस प्रकार निषिद्ध है उसी तरह से मनोविकारों का भाव भी निषिद्ध माना गया है। दोनों के सद्भाव में साधकयोगी साधना पथ पर अग्रगामी नहीं हो सकता। इसलिए जैन पद्धति ने 'आतापना' के अन्तर्गत सूर्य की प्रखर किरणों के ताप, शीत आदि को सहन करना विधियुक्त माना है। शरीर के लिए साज-सज्जा आदि का परित्याग 'विभूषा' तथा शृंगार आदि का निषेध 'परिकर्म' के अन्तर्गत व्यवहित किया गया है। इन तीनों प्रक्रियाओं के साथ कायक्लेश के चारों प्रकार शरीर को संयमित रखने एवं उससे निर्मोह स्थिति उत्पन्न करने के साधन होते हैं।

शरीर के इस नियन्त्रणपूर्वक संयम की ही तरह मनोनियंत्रण की विधि का भी जैनागमों में विधान किया गया है। मन के नियंत्रण से पंचेन्द्रियों का नियंत्रण भी स्वाभाविक रूप में सम्पन्न हो जाता है। इसके अनन्तर मानसिक विकारों क्रोध, मान, माया और लोभ आदि मनोविकारों का नियंत्रण कर सकना भी सरल हो जाता है। मन चूंकि स्वभावतः चञ्चल है इसलिए एक बार उसका नियंत्रण कर लेने पर यह आवश्यक हो जाता है कि वह निरन्तर बना रहे। अन्यथा कारावास से छूटे हुए अपराधी की भाँति वह अपनी पूर्ण सामर्थ्य से विषयाभिमुख होकर भागने लग जाता है और फिर उसका नियंत्रण कर पाना असम्भव हो जाता है। इस प्रक्रिया का जैन साधकों ने स्वयं अनुभव किया और उन्होंने यह विशेष रूप से विधान किया कि इन्द्रियों और मनोविकारों पर निग्रह प्राप्त करने के बाद साधक स्वयं को शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्तियों से सुरक्षित रखे तथा विविक्त स्थान में ही अपना शयन, बैठना आदि किया करे।

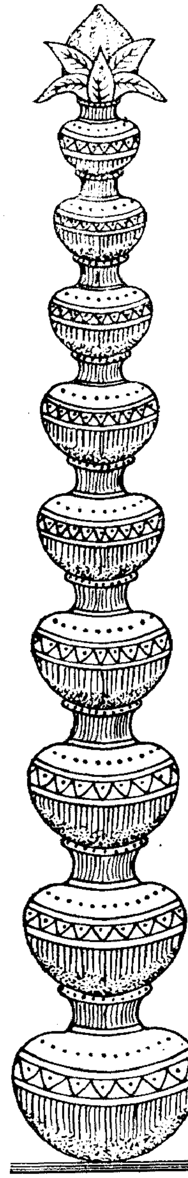

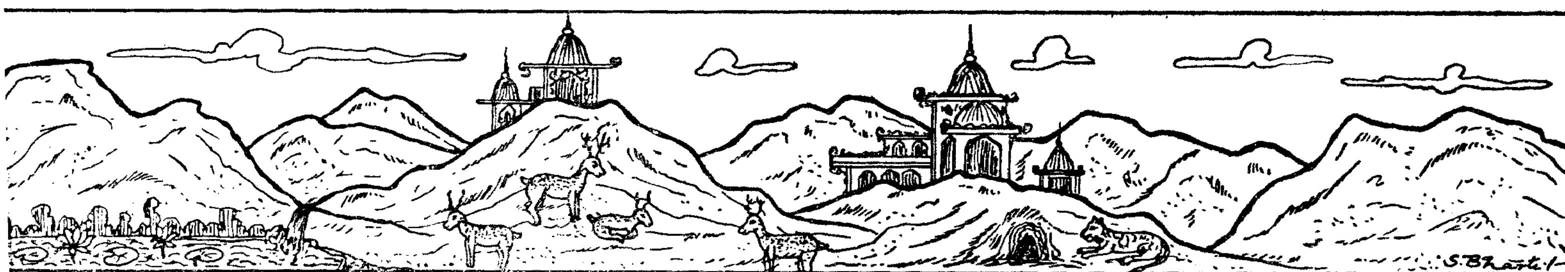

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस चार प्रकार की प्रक्रिया को इस परम्परा में 'संलीनता' के नाम से सम्बोधित किया गया है और इन प्रक्रियाओं के आधार पर संलीनता को चार भागों में विभाजित किया है। ये भेद[१९] हैं—**१. इन्द्रिय संलीनता, २. कषाय संलीनता, ३. योग संलीनता,** तथा **४. विविक्त शयनासन संलीनता।** यहाँ पर विविक्त शयनासन को स्पष्ट करते हुए जैनागम ने यह निर्देश किया है कि साधक को श्मशान, शून्यागार और वृक्षमूल आदि स्थानों पर रहना, बैठना, सोना आदि करना[२०] चाहिए।

आत्मिक विकारों का अभाव–आभ्यन्तर तप—जैनसंस्कृति श्रमणसंस्कृति, मूलतः आध्यात्मिक संस्कृति है। इस संस्कृति ने जीव के जगत बन्धनों की मुक्ति के लिए जिस प्रकार शरीर, इन्द्रियों और मन के विकारों का अभाव अपेक्षित माना है उसी प्रकार आत्मिक विकारों का अभाव भी 'मोक्षप्राप्ति' में विशिष्ट स्थान रखता है। फलतः जैन पद्धति में योग की जो प्राचीन द्वादशांग परम्परा प्रचलित है, इसकी प्रथम छः विधाएँ १. **अनशन**, २. **ऊनोदरी**, ३. **भिक्षाचरिका**, ४. **रसपरित्याग**, ५. **कायक्लेश** तथा ६. **संलीनता**, बाह्य तप के रूप में स्वीकार की गई हैं। यह छहों विधाएँ विषयों से व्यावृत्ति की निमित्तभूत हैं। इसलिए इन्हें 'बाह्य तप' कहा गया है। किन्तु शेष ६ विधाएँ—१. **प्रायश्चित्त**, २. **विनय**, ३. **वैयावृत्य**, ४. **स्वाध्याय** ५. **ध्यान** और ६. **व्युत्सर्ग**, आत्मा के आन्तरिक विकारों को शुद्ध बनाने में निमित्तभूत होती हैं, इसलिए इन्हें 'आभ्यन्तर तप' की संज्ञा से विभूषित किया गया है। इसकी प्रथम विधा (प्रायश्चित्त) को पूर्वकृत दोषों को शुद्ध करने का निमित्त होने के कारण साधना पथ के लिए प्रशस्त माना गया है। जबकि दूसरी विधा (विनय) संयम या शुद्धि के साधनों का अवलम्बन होती है। इस विधा के सात प्रकार होते हैं जिन्हें क्रमशः—१. **ज्ञान विनय**, २. **दर्शन विनय**, ३. **चारित्र विनय**, ४. **मन-विनय**, ५. **वाग्विनय**, ६. **काय विनय** तथा ७. **लोकोपचार विनय** कहा गया है। तीसरी विधा—'वैयावृत्य' में साधक को दूसरे सभी साधकों को यथासम्भव हर प्रकार का सहयोग देने का विधान किया गया है।

जैन योगसाधना में स्वाध्याय का महत्त्व—आभ्यन्तर तप की चतुर्थ एवं पञ्चम विधाओं मे परस्पराश्रय-भाव जैन साधना में माना गया है। साधक योगी के लिए दोनों विधाएँ परमात्मभाव के साधन[२१] रूप में स्वीकार की गई हैं। स्वाध्याय रहित ध्यान और ध्यान रहित स्वाध्याय को साधना-पथ में असहयोगी सिद्ध किया गया है। इस प्रकार स्वाध्याय अपने से अनन्तरभावी साधना स्थिति की पोषक एक महत्त्वपूर्ण विधा है। इसे भी पञ्चांगी रूप से स्वीकार किया गया है। ये पञ्चांग हैं—**१. वाचना**–आध्यात्मिक ग्रन्थों, आगमों आदि का पढ़ना, २. **प्रच्छना**–आगमों के अध्ययनोपरान्त उनके मर्मस्थलों के सन्दर्भ में प्रश्न पूछना, **३. परिवर्तना**–पठित आगम ग्रंथों के उपदेशों के अविस्मरण हेतु उनकी बार-बार अनुवृत्ति करना, ४. **अनुप्रेक्षा**–अनुवर्तन के समय प्रत्येक उपदेश पर मानसिक चिन्तन तथा मनन करना, तथा **५. धर्मकथा**–साधुमण्डल अथवा भक्त जनसमूह के मध्य शास्त्रों का प्रवचनपूर्वक धार्मिक कथाओं को कहना, अर्थात् स्वोपार्जित अध्ययनजन्य ज्ञान का मानव-मात्र के कल्याण के निमित्त प्रवचन करना। जैनागमों के इस स्वाध्याय स्वरूप का सादृश्य 'स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्' वेद वाक्य से कितना है, यह विद्वज्जन स्वयं अनुमान लगा सकते हैं। इस पंचांगी स्वाध्याय को 'मोक्ष प्राप्ति का चरम साधन' माना गया है। क्योंकि इससे 'ज्ञानावरणीय कर्म' का क्षय[२२] होता है और इसके क्षय होने से आत्मा में स्वाभाविक ज्ञान की विमलता प्रस्फुटित होती है। ज्ञान का प्रस्फुटीकरण दर्शनपूर्वक होता है और मोक्ष प्राप्ति में 'ज्ञानदर्शन' का अपना एक वैशिष्ट्य है।

ध्यान और जैन साधना—यद्यपि स्वाध्याय और ध्यान एक-दूसरे के पूरक हैं। एक के अभाव में दूसरे की सफलता अथवा सार्थकता संदिग्ध मानी गई है, किन्तु जैन साधना पद्धति में ध्यान से पूर्व 'एकाग्रमनः सन्निवेशना' को स्थान दिया गया है। आलम्बन विशेष में मन की स्थापना इसकी विशेष प्रक्रिया है और इसका उद्देश्य है—चित्त[२३] का निरोध'। यही ध्यान का प्रथम स्वरूप है। 'चल-अध्यवसाय' को चित्त तथा अचल स्थिर अध्यवसाय को 'ध्यान'[२४] कहा गया है। चित्त की स्थिरता ही ध्यान का प्रारम्भिक प्रथम स्वरूप है और द्वितीय स्वरूप है काय-वाक् और मन की प्रवृत्तियों की सर्वथा स्थिरता। सामान्य दृष्टि से ध्यान का यही रूप द्वैविध्य है। किन्तु साधना की दृष्टि से ध्यान के दूसरे प्रकार से दो भेद माने गए हैं, जिन्हें **१. धर्मध्यान** और २. **शुक्लध्यान** की संज्ञाओं से व्यवहृत किया गया है। चित्त-चाञ्चल्य के निरोध के लिए प्रारम्भिक अभ्यास रूप 'धर्मध्यान' को माना है। इन्द्रियाँ स्वभावतः अपने विषय ग्रहण की प्रवृत्ति में संलग्न रहती हैं। वे अपनी इस प्रक्रिया की सफलता के लिए चित्त को अपनी और आकर्षित करती रहती हैं और उसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी अपने साथ चञ्चल बनाए रखती हैं। फलतः स्वयं चंचलशील चित्त की चंचलता चित्त में और अधिक वृद्धि हो जाती है। जिससे वह जगत के चतुर्दिक अपेक्षाकृत तीव्र गति से संक्रमण करने लगता है। इस संक्रमणशील चित्त को जगत की विषय परिधि से हटाकर किसी एक विषय-विशेष पर केन्द्रित करना ध्यान का धर्म है। यह केन्द्रीयकरण ज्यों-ज्यों वृद्धिशील होता है, चित्त की चंचलता भी शान्ति में परिवर्तित होने लगती है और वह शनैः-शनैः निष्कम्प-स्थिति के समीप पहुँचता जाता है। अभ्यास की यह स्थिति धर्मध्यान में प्रारम्भिक अवस्था में रहती है, किन्तु शुक्लध्यान में परिपक्वता को प्राप्त होने लगती है तथा क्रमशः शुक्लध्यान के चतुर्थ चरण में चित्त प्रवृत्तियों का सर्वथा निरोध अर्थात् 'समाधि' की प्राप्ति हो जाती है।

ध्यान के विशेष भेद—१. **धर्मध्यान**—'समाधि' साधना की पूर्णता लक्ष्य है। साधनापथिक इस लक्ष्य तक विभिन्न स्थितियों को पार करता हुआ अन्त में पहुँचता है। लक्ष्य प्राप्ति और साधनारम्भ की स्थितियों के मध्य मूल दो विशिष्ट स्थितियाँ मानी गयी हैं जिन्हें 'धर्मध्यान' और शुक्लध्यान' कहा गया है। इन दोनों स्थितियों को ही पृथक्-पृथक् भेदों में विभाजित किया गया है, जिन्हें चरण भी कहा जा सकता है। इस प्रकार 'ध्यान' के 'विभेद' कई प्रकार के हो जाते हैं।

धर्मध्यान की चार विशेष स्थितियाँ चरण—मानी गई हैं। जैनागमों के अनुसार इनका यह स्वरूप निर्धारित किया गया है—१. सूक्ष्म पदार्थों का चिन्तन **'आज्ञाविचय'**, २. इस चिन्तन के उपरान्त पदार्थों की हेयोपादेयता का चिन्तन **'अपायविचय'** ३. तत्पश्चात् हेय पदार्थों के ग्रहणोपरान्त तज्जन्य अनभीप्सित अनुपादेय परिणामों का चिन्तन **'विपाकविचय'**, और ४. लोक एवं पदार्थों की आकृति तथा स्वरूपों का चिन्तन **'संस्थानविचय'** कहा गया है। इन चारों स्थितियों में विभिन्न चिन्तन का परिणाम निर्देश करते हुए जैनागमों में कहा गया है कि आज्ञाविचय के चिन्तन से वीतराग भाव, अपायविचयात्मक चिन्तन से राग, द्वेष, मोह तथा तज्जन्य दुःखों से मुक्ति, विपाकविचयात्मक चिन्तन से दुःख हेतुओं, उनकी उदयादि अवस्थाओं तथा परिणामों का ज्ञान एवं संस्थानविचयात्मक चिन्तन से विश्व की उत्पाद, व्यय और ध्रुवता तथा इसके नाना परिणामों का ज्ञान कर लिया जाता है। इन विभिन्न परिणामों के ज्ञान से साधक को जगत से घृणा होने लगती है। फलतः हास्य, शोक आदि विकारों से उसका मन दूर हटने लगता है।

इन चिन्तनों की संज्ञा 'ध्येय' भी है। जिस प्रकार साधक को किसी सूक्ष्म या स्थूल पदार्थविशेष पर आलम्बन मानकर चित्त की एकाग्रता अपेक्षित होती है, उसी प्रकार इन ध्येय विषयों पर भी साधक को चित्त की एकाग्रता आवश्यक होती है। क्योंकि इन ध्येय विषयों के चिन्तन से चित्त निरुद्ध होकर शुद्ध हो जाता है। अतः इस चिन्तन पद्धति को 'धर्मध्यान' के रूप में स्वीकार किया गया है।

धर्मध्यान के लक्षण, आलम्बन एवं अनुप्रेक्षायें—ध्यान का लक्षण सामान्यतः मन और इन्द्रियों की बहिर्मुखी प्रवृत्ति को अन्तर्मुखी बनाने के सामान्यहेतुओं का स्वरूप है, इसी सिद्धान्त के अनुसार धर्मध्यान जिन-जिन हेतुओं के माध्यम से प्रस्फुटित होता है उन-उन हेतुओं के आधार पर इसके लक्षणों के चार स्वरूपों का प्रतिपादन जैन शास्त्रों में उपलब्ध होता है। ये चतुर्विध लक्षण हैं—१ **आज्ञारुचि**—शास्त्रों में धर्मोपदेष्टाओं की आज्ञानुसार राग, द्वेष एवं मोह का नाश हो जाने से मिथ्या-आग्रह का अभाव, २. **निसर्गरुचि**—मिथ्या-आग्रह के अभाव से उत्पन्न स्वाभाविक आत्मकान्ति रूप, ३. **सूत्ररुचि**—सूत्रों और आगमों के अध्ययन से उत्पन्न ज्ञान रूप तथा ४. **अवगाढ़रुचि**—तत्त्वचिन्तन के उपरान्त तत्त्वावगाहना से उत्पन्न रूप। इस प्रकार इन चारों लक्षणों में धर्मध्यान संयुक्त होता है।

इन चार लक्षणों की ही तरह धर्मध्यान के आलम्बन के भी चार प्रकार हैं। आगमों में स्वाध्याय और ध्यान को परस्परापेक्षी निर्दिष्ट किया गया है। धर्मध्यान ध्यान का प्रारम्भिक स्वरूप है। अतः इसका आलम्बन भी स्वाध्याय-परक होना स्वाभाविक है। ये प्रकार हैं १. **वाचना**, २. **प्रच्छना**, ३. **परिवर्तना** और ४. **अनुप्रेक्षा**। इनका यहाँ पर भी वही अभिप्राय है जोकि स्वाध्याय के अंग रूप में है।

धर्मध्यान की अनुप्रेक्षाओं का भी चातुर्विध्य योग साधकों ने माना है। ये हैं—१. **एकत्वानुप्रेक्षा**—मैं अकेला हूँ, स्त्री, पुत्र, पिता आदि कोई भी दूसरा मेरा नहीं है, इत्यादि भावना। २. **अनित्यानुप्रेक्षा**—संयोग, सम्बन्ध, सभी अनित्य हैं। कोई भी किसी का साथ स्थायी नहीं देता इत्यादि भावना। ३. **अशरणानुप्रेक्षा**—दुःखों की स्थिति में कोई भी मुझे शरण देने वाला नहीं है, मैं स्वयं ही अपनी शरण हूँ, इत्यादि भावना तथा चतुर्थ अनुप्रेक्षा है—४. **संसारानुप्रेक्षा**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैं संसार में परिभ्रमण कर रहा हूँ। यह संसार अनित्य है। जब तक मैं इससे बंधा हूँ, तब तक ही मैं संसारी हूँ, इत्यादि भावना का होना। धर्मध्यान के लक्षण, आलम्बन एवं अनुप्रेक्षाओं को दृष्टिगत करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इसके लिए श्रद्धा (दर्शन) स्वाध्याय एवं भावना की विशेष अपेक्षा होती है।

२. **शुक्लध्यान**—धर्मध्यान की तरह शुक्लध्यान की भी चार विशेष स्थितियाँ (चरण) हैं। इस ध्यान की इन स्थितियों को पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध (शुक्लध्यान) के रूप में दो युग्मों में भी विभाजित किया जा सकता है। क्योंकि इन दोनों युग्मों की दोनों स्थितियां परस्परापेक्षित स्वभाववाली हैं। इन चारों प्रकार की स्थितियों का स्वरूप जैनागम के अनुसार इस प्रकार माना गया है—

(१) **पृथक्त्ववितर्क—(सविचारी)**—शुक्लध्यान सामान्यतः विशिष्टज्ञानी (पूर्वधर) मुनि को होता है। यह मुनि पूर्वश्रुत के अनुसार द्रव्य विशेष के आलम्बन से ध्यान करता है किन्तु उसकी किसी भी एक परिणति पर या किसी भी एक स्थिति पर स्थिर नहीं रहता है। उस द्रव्य की विविध परिणतियों पर परिभ्रमण करता हुआ शब्द से अर्थ एवं अर्थ से शब्द पर तथा काय-वाङ्-मन में एक से दूसरी प्रवृत्ति पर संक्रमण करता हुआ भिन्न-भिन्न दृष्टियों से उन पर चिन्तन करता है। ऐसे मुनि को 'पृथक्त्ववितर्क'—सविचारी, माना गया है। जैनपद्धति में 'वितर्क' को 'श्रुतावलम्बी विकल्प' तथा 'विचार' को 'परिवर्तन' के रूप में माना गया है, जबकि योगदर्शन में शब्द, अर्थ तथा ज्ञान के विकल्पों से संकीर्ण समापत्ति को 'सवितर्का' की संज्ञा दी गयी है। यह मुनि पूर्वश्रुत के अनुसार जब किसी एक द्रव्य विशेष का आलम्बन लेकर उसके किसी एक परिणाम विशेष पर अपने चित्त को स्थिर करता है, अर्थात् उसका मन शब्द, अर्थ, वाणी तथा संसार में संक्रमण नहीं करता है तब ऐसे ध्यान को (२) **एकत्ववितर्क—(अविचारी)** कहा जाता है।

इन दोनों प्रकारों में स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के पदार्थ आलम्बन रूप होते हैं। इन दोनों के ही अभ्यास से मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म क्षीण होते हैं। ततश्च आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदृष्टा, तथा अनन्तशक्ति से सम्पन्न एवं विरक्त हो जाता है। इस स्थिति के उपरान्त साधक तब तक 'जीवनक्रिया' या 'जीव-पर्याय' से संयुक्त रहता है जब तक कि उसका 'आयुकर्म' शेष रहता है।

(३) **सूक्ष्म क्रिय—(अप्रतिपाती)**—इस ध्यानस्थिति में साधक के मन, वाणी और काय का क्रमशः निरोध होता है। अतः योगी के एकमात्र सूक्ष्मक्रिया—'श्वासोच्छ्वास' शेष रह जाती है। किन्तु (४) **समुच्छिन्नक्रिय (अनिवृत्ति)** ध्यानस्थिति में इस क्रिया का भी निरोध हो जाता है। इस प्रक्रिया के निरोध के तुरन्त पश्चात् 'पञ्चमात्राकालमात्र' (**अ, इ, उ, ऋ, लृ, पाँच ह्रस्व स्वरों के उच्चारणकाल मात्र**) तक ही साधक सशरीरी रहता है। तत्पश्चात्-मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।

अर्थात् साधक योगी 'एकत्ववितर्क' शुक्लध्यान तक 'सयोगिकेवली' की स्थिति में रहता है किन्तु 'सूक्ष्मक्रिय' ध्यान की स्थिति से उसकी 'अयोगिकेवली-अवस्था' प्रारम्भ होती है और 'समुच्छिन्नक्रिय' शुक्लध्यान की स्थिति में उसे पूर्णता प्राप्त हो जाती है। इसी स्थिति में 'तपोयोग' के बारहवें तथा 'आभ्यन्तर तप' के छठवें तप **व्युत्सर्ग** की सत्ता स्पष्ट हो जाती है जिसका अर्थ है—'देहाध्यास से मुक्ति।'

शुक्लध्यान के लक्षण, आलम्बन एवं अनुप्रेक्षाएं—धर्मध्यान की तरह शुक्लध्यान के भी लक्षण, आलम्बन एवं अनुप्रेक्षाओं का चातुर्विध्य स्वीकार किया गया है। लक्षण चातुर्विध्य का प्रारम्भ इस प्रकार है—

१ **अव्यथ**—जिससे व्यथा का अनुभव न हो अर्थात् कष्टों के सहन करने में अचल धैर्य की प्राप्ति। २ **असम्मोह**—जगत के स्थूल सूक्ष्म उभयविध पदार्थों के प्रति मोह का अभाव अर्थात् जगत के माया जाल में मौढ्य का न होना। ३ **विवेक**—ज्ञान के साक्षात्कार के उपरान्त देह और आत्मा में स्पष्टतः भेदबुद्धि, तथा ४ **व्युत्सर्ग**—शरीर तथा इसके सुख-शृंगारदि के उपकरणभूत साधनों के प्रति निर्लिप्तभाव।

आलम्बन चातुर्विध्य का स्वरूप इस प्रकार जैनागमों में उपलब्ध होता है—(१) **क्षमा—(अक्रोध)**—क्रोध रहित होकर कटु, अपमान सूचक प्रसङ्गों में शब्दों एवं व्यवहारों को उपेक्षाभाव से देखना, (२) **मुक्ति (लोभराहित्य)**—जगत के सर्वविध पदार्थों के प्रति अनुपादेय बुद्धि से सम्बन्धविच्छेद। (३) **मार्दव (अभिमान शून्यता)**—जगत के प्रति विरक्त भाव होने पर 'यह मुझ में भाव है' 'अतः मैं अन्य जगत जीवों से विशिष्ट हूँ, अथवा 'मैं इन्द्रियनिग्रही हूँ' इत्यादि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सभी प्रकार के अभिमानों से शून्य होकर मृदुस्वभाव ग्रहण करना। (४) **आर्जव (सहजता)**—समस्त आचार एवं व्यवहार में सहज स्वाभाविकता की स्वीकृति। इन्हीं चार विधाओं को शुक्लध्यान का आलम्बन माना गया है।

अनुप्रेक्षाओं की चतुर्विधता निम्न प्रकार है—

(१) **अनन्तवृत्ति अनुप्रेक्षा**—यह भव परम्परा कभी भी समाप्त नहीं होने वाली है। इसलिए यह अनुपादेय है इत्यादि भावना, (२) **विपरिणामानुप्रेक्षा**—सभी पदार्थ नित्य परिणमनशील हैं और इनका विपरीत परिणाम आत्मा पर होता है, इत्यादि भावना। (३) **अशुभानुप्रेक्षा**—जगत के सभी प्रकार के सम्बन्ध आत्मप्राप्ति के लिए अकल्याण कारी हैं, इत्यादि भावना, (४) **अपायानुप्रेक्षा**—जगत सम्बन्धानुसार समस्त कर्मों के आस्रव बन्ध के हेतु हैं, अतः ये सभी कर्म हेय या अनुपादेय हैं, इत्यादि भावना।

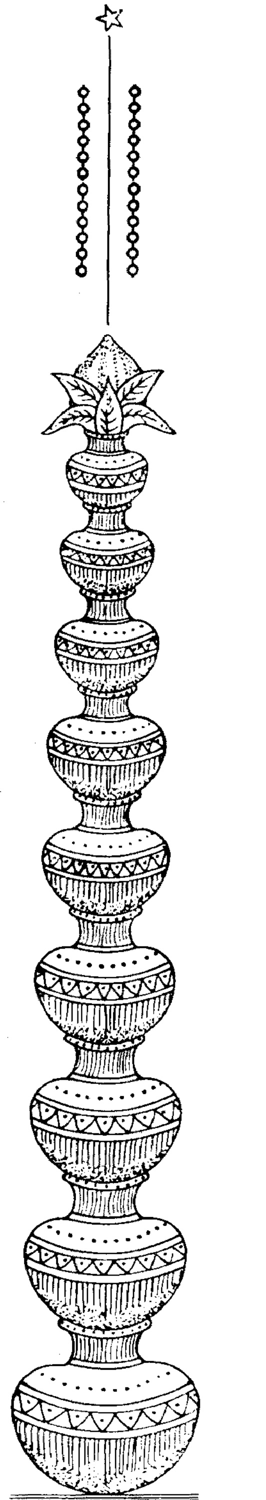

शुक्लध्यान के लक्षण आदि के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि इसके लिए आत्म स्वभाव में अवगाहना तथा आत्मिक भावनाओं की विशेष अपेक्षा होती है। अनित्य-अशरण आदि भावनाओं के बारह प्रकार हैं। इनमें से प्रथम की चार भावनाएं धर्मध्यान की अनुप्रेक्षाओं के रूप में स्वीकार की गयी है।

ध्यान की प्रमुख स्थितियाँ—जैन साधना पद्धति पर विशेष दृष्टिपात करने पर यह तत्त्व निष्कर्ष रूप में प्रकट होता है कि जैन साधना पद्धति की परम्परा मोक्ष प्राप्ति तक एक निर्धारित क्रम के अनुसार चलती है जिसे साधक की 'सांसारिक स्थिति' से लेकर 'मोक्ष-प्राप्ति' पर्यन्त तक ग्यारह[२४] प्रमुख अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता है। इन अवस्थाओं की संज्ञा 'भूमिका' भी स्वीकार की गयी है। ये अवस्थाएँ हैं—१ सम्यक्दृष्टि, २ देशव्रती, ३ महाव्रती ४ अप्रमत्त, ५ अपूर्वकरण, ६ अनिवृत्ति, बादर ७ सूक्ष्मलोभ, ८ उपशान्तमोह, ९ क्षीणमोह, १० सयोगि केवली और ११ अयोगि केवली।

इनमें से प्रथम तीन स्थितियों में धर्मध्यान मात्र होता है। किन्तु चतुर्थ स्थिति में धर्मध्यान के साथ-साथ अंशतः शुक्लध्यान[२५] भी होता है। यहाँ से प्रारम्भ कर ७वीं स्थिति-सूक्ष्म लोभ तक शुक्ल ध्यान का मात्र प्रथम चरण होता है। क्षीणमोह वीतराग नामक ९वीं स्थिति में शुक्लध्यान का द्वितीयचरण पूर्णता को प्राप्त[२७] हो जाता है। १०वीं सयोगि केवलि स्थिति के अन्त में शुक्लध्यान का तृतीयचरण पूर्ण होता है। क्योंकि इस अवस्था में केवली योगी के शरीर की सत्ता[२८] वर्तमान रहती है। जबकि ११वीं स्थिति में यह ध्यान चतुर्थ चरण के साथ-साथ स्वयं भी पूर्णता[२९] को प्राप्त कर लेता है।

ध्यान का उद्देश्य—आत्मा सूक्ष्म और स्थूल द्विविध शरीरों से वेष्ठित है। इस सामान्य सांसारिक स्थिति में बद्ध आत्मा के ज्ञान के साधन मन और इन्द्रियाँ होती हैं। इनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति बाह्य विषयों की जानकारी में होती है। ध्यान की प्रारम्भिक अवस्था में इस बाह्य प्रवृत्ति को अन्तः की ओर अग्रसर करने का अभ्यास किया जाता है। इसलिए ध्यान का सामान्य उद्देश्य है—"लब्धि" किन्तु इस प्रारम्भिक स्थिति को ही अन्त नहीं माना जा सकता। ध्यान का अन्त होता है ११वीं अयोगि केवली स्थिति में और इस स्थिति का दूसरा रूप होता है—'परमात्मभाव'। अतः ध्यान का चरम उद्देश्य भी जैन परम्परा में यही स्वीकार किया गया है। जीव की सामान्य बाह्य-बहिर्दर्शन-प्रवृत्ति को जब तक समाप्त नहीं किया जाता और परमात्मभाव-अन्तर्दर्शन की ओर अभिमुख नहीं हुआ जा सकता। फलतः ध्यान के स्वभावतः मुख्य एवं गौण, दो सामान्य भेद बन जाते हैं। ध्यान की चरम स्थिति में पदार्पण करने पर साधक योगी में जगत के तमाम जीवों को कर्मबन्धन से मुक्त कर सकने की सामर्थ्य[३०] सुलभ हो जाती है भले ही इसका प्रयोग वे कभी न करे।

ध्यान का महत्त्व—जैनागमों में ध्यान का महत्त्व इसी से जाना जा सकता है कि जैन मुनियों के लिए यह आवश्यक विधान किया गया है—"जैनमुनि दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में आहार और चतुर्थ प्रहर में पुनः[३१] स्वाध्याय करे। इसी प्रकार रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में निद्रा तथा चतुर्थ पहर में पुनः[३२] स्वाध्याय करे। किन्तु काल-क्रमानुसार मुनियों के इस विधान में काफी परिवर्तन हुआ है। फलतः जैनमुनियों एवं साधु, साध्वियों में ज्ञान-दर्शन की क्षति हुई है।

श्रमण साधना का लक्ष्य—विश्व की किसी भी वस्तु को पूर्ण बनाने के लिए पदार्थ विषयक ज्ञान एवं क्रिया

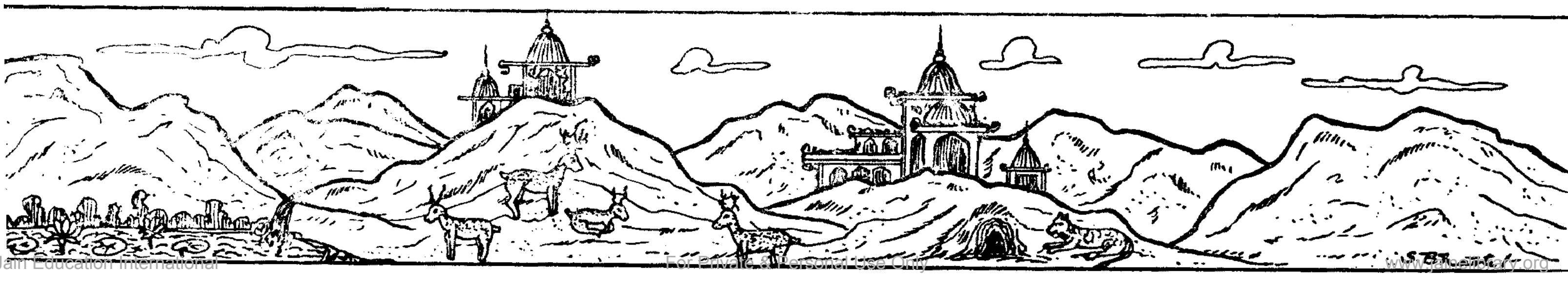

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोनों की परम अपेक्षा होती है। लौकिक एवं पारलौकिक उभयविध कार्यों की सिद्धि में भी इन दोनों का समन्वय परम आवश्यक होता है। योग साधन भी एक क्रिया है। इस साधना में प्रवृत्त होने वाले के लिए आत्मा, योग, साधना आदि आध्यात्मिक तत्त्वों का ज्ञान होना आवश्यक है।

जैन परम्परा-श्रमणपरम्परा के मूल ग्रन्थ आगम हैं। उनमें वर्णित साध्वाचार का अध्ययन करने से यह स्पष्टत: परिज्ञात होता है कि पाँच महाव्रत, समिति, गुप्ति, तप, ध्यान और स्वाध्याय आदि जो योग के मुख्य अंग हैं; उनको श्रमण-साधना के अनुयायी साधु जीवन का प्राण[३४] माना है। वस्तुत: आचार साधना-श्रमण साधना का मूल, प्राण और जीवन है। आचार के अभाव में श्रमणत्व की साधना मात्र कंकाल एवं शवस्वरूप होकर निष्प्राण रह जाएगी।

जैनागमों में 'योग' शब्द 'समाधि' या 'साधना' के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। यहाँ इसका अर्थ है—'मन, वचन एवं काय की प्रवृत्ति' यह दो प्रकार का है शुभ और अशुभ। दोनों का ही निरोध करना श्रमण साधना का ध्येय है। अत: जैनागमों में साधु को आत्मचिन्तन के अतिरिक्त अन्य कार्य करने की आज्ञा नहीं दी गयी है। यदि साधु के लिए अनिवार्य रूप से प्रवृत्ति करना आवश्यक है तो आगम द्वारा निवृत्तिपरक प्रवृत्ति करने की अनुमति दी गई है। इस प्रवृत्ति को आगमिक भाषा में 'समिति गुप्ति' कहा जाता है। इसे 'अष्ट प्रवचन माता' भी कहा जा सकता है।

श्रमण साधना का मुख्य लक्ष्य है—योग=काय-वाक्, मन की चञ्चलता का पूर्ण निरोध। किन्तु इसके लिए हठयोग की साधना को बिल्कुल महत्त्व नहीं दिया गया है। क्योंकि इससे बलात्-हठपूर्वक, रोका गया मन कुछ क्षणों के अनन्तर ही सहसा नियंत्रण मुक्त होने पर स्वाभाविक वेग की अपेक्षा तीव्रगति से प्रवाहित होने लगता है। और सारी साधना को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। जैनागमों में 'योगसाधना के अर्थ में 'ध्यान' शब्द का प्रयोग हुआ है। जिसका अभिप्राय है अपने योगों को 'आत्मचिन्तन में प्रवृत्त करना'। इसमें कायिक स्थिरता के साथ-साथ मन और वचन को भी स्थिर किया जाता है। जब मन चिन्तन में संलग्न हो जाता है, तब उसे यथार्थ में 'ध्यान' एवं 'साधना' कहते हैं। ●

---

१ उत्तराध्ययन २९।२५-२६।
२ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। —तत्त्वार्थ० १।१
३ मोक्षोपायो योग: ज्ञान-श्रद्धान-चरणात्मक:। —अभिधानचिन्ता० १।७७
४ युजृपी योगे—हेमचन्द्र धातुपाठ—गण ७
५ युजिच समाधौ ,, ,, —गण ४
६ मोक्खेण जोयणाओ जोगो —योगविंशिका १
७ मोक्षेण योजनादेव। योगो ह्यत्र निरुच्यते —द्वात्रिंशिका।
८ अध्यात्मभावनाध्यानं समतावृत्ति संक्षय:।
मोक्षेण योजनाद्योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥ —योगबिन्दु ३१ ॥
९ योगविंशिका—१ (व्याख्या)
१० दुगमित्थ कम्मजोगो, तहा तियं नाणजोगो उ—योगविंशिका २
११ ट्ठाणुन्नत्थालंबण-रहिओ तं तम्हि पंचहाएसो— ,, २
१२ प्रात: स्नानोपवासादिकायक्लेशविधि विना।
एकाहारं निराहारं यामन्ति च न कारयेत ॥ —घेरण्ड सं० ५।३० ॥
१३ आवश्यकनिर्युक्तिपत्र-२३६।३०० ॥
१४ (क) दशवैका०—८
(ख) मिताहारं विना यस्तु योगारंभं तु कारयेत।
नाना रोगो भवेत्तस्य कश्चित् योगो न सिंचति ॥ —घेरण्ड सं० ५।१६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५ औपपातिक० तपोऽधिकार ।
१६ वही ।
१७ अंगुष्ठाभ्यामवष्टभ्य धरां गुल्फे च खेगतौ ।
तत्रोपरि गुढं न्यस्य विधेयमुत्कटासनम् ॥
१८ ठाणांग०, उत्तरा० ३०।२७
१९ औपपातिक तपोऽधिकार ।
२० सुस्साणे सुन्नगारे वा रुक्खमूले वा एगओ । —औपपा० तपोऽधिकार ।
२१ स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां, ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत् ।
ध्यानस्वाध्यायसम्पत्या परमात्मा प्रकाशते । —सम०
२२ सज्झाएण नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ —उत्तरा० २९।१८
२३ एगग्गमणसन्निवेसणाए णं चित्तनिरोहं करेइ —उत्तरा० २९।२५
२४ एकाग्रचिन्तायोगनिरोधो वा ध्यानम्—जैन सिद्धान्तदीपिका ॥
२५ समवायांग-१४ ।
२६ धर्मध्यानं भवत्यत्र मुख्यवृत्या जिनोदितम् ।
रूपातीतं तथा शुक्लमपि स्यादंशमात्रतः ॥ —गुणस्थान क्रमारोह-३५ ॥
२७ गुणस्थान क्रमारोह ५१ तथा ७४
२८ वही–१०१
२९ वही–१०५
३० क्षपक श्रेणिपरगतः सः समर्थः सर्वकर्मिणां कर्म ।
क्षपयितुमेको यदि कर्मसंक्रमः स्यात्परकृतस्य ॥ —प्रशमरति० २६४ ॥
३१ पढमं पोरिसिं सज्झायं, बीयं झाणं झियायइ । तइयाए भिक्खायरियं, पुणोचउत्थीए सज्झायं । —उतरा० २६।१२ ॥
३२ पढमं पोरिसिं सज्झायं, बीयं झाणं झियायइ । तइयाए निद्दमोक्खं तु, चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं ॥
—उत्तरा० २६।१८॥
३३ आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि ।
३४ अट्ठपवयणमायाओ, समीए गुत्ती तहेव य ।
पंचेव य समिईओ तओ गुत्ती उ आहिया ॥ —उत्तरा० २४।१ ॥

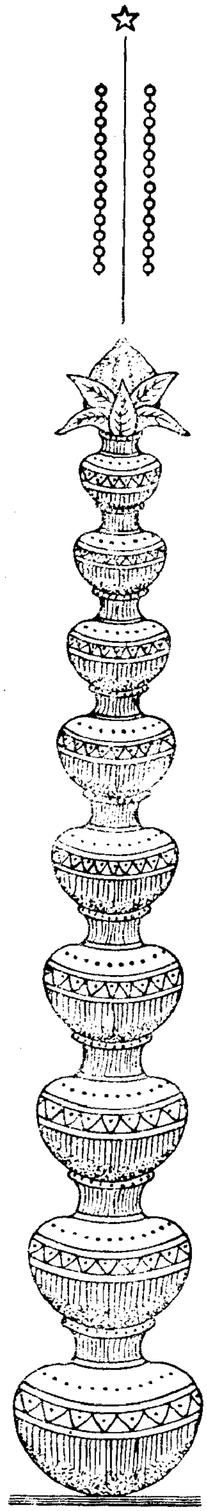

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org